

दोनों को जानता है। इसप्रकार कार्य स्वयं पुरुषार्थसे स्वयं की ओर झुकता है, भेदज्ञान करके। भेदज्ञान द्वारा विभावसे न्यारा होता है। मैं उससे भिन्न हूँ। उससे न्यारा होता है, अमुक प्रकारसे। फिर विशेष होता जाता है। गृहस्थाश्रम में अमुक प्रकारसे न्यारा होता है। दृष्टि अपेक्षासे न्यारा है कि मैं तो यही हूँ, यह नहीं। जितना अपना आलम्बन आया उतना न्यारा हो गया है।

मुमुक्षु :- जिस ज्ञान में अशुद्धता ख्याल में आयी कि यह अशुद्धता है। मेरा पूर्ण स्वरूप ऐसा है। इसप्रकार जिस ज्ञान में अशुद्धता में जानने में आयी उसे फिर अशुद्धता रहे कैसे?

समाधान :- जानने के साथ ही जाना इसलिये कार्य हो नहीं जाता। यह अशुद्धता है, यह शुद्धता है। मेरा स्वभाव शुद्ध है, पर्याय में अशुद्धता है। ऐसा जाना, तो जानने के साथ ही कार्य नहीं होता। कार्य अभी (बाकी है)। वह जाना, अमुक प्रकारसे भिन्न होता है। उसने जाना वह यथार्थ जाना है। दृष्टि स्वयं आत्मा का आश्रय लेकर यह आत्मा है, यह विभाव है, उस आत्मा का आश्रय लेकर बराबर जाना है। इसलिये अमुक प्रकारसे न्यारा होता है। ऐसे जानने के साथ अमुक कार्य हो जाता है, लेकिन विशेष कार्य करने में देर लगती है। जानने के साथ ही तुरंत अन्दर में स्थिर हो जाये ऐसा बनता है। उसे लीनता होने में देर लगती है। इसलिये (अमुक प्रकार) गृहस्थाश्रम में होता है। फिर उसे विशेष पुरुषार्थ होता है। अंतरमेंसे सब त्याग हो गया कि यह सब मेरा स्वभाव नहीं है। यह सब कब छूटे? भावना ऐसी है लेकिन पुरुषार्थ इतना चलता नहीं है। जानने के साथ ही तुरंत नहीं हो जाता। चारित्र की दशा अंतर की (बाकी रहती है)। फिर बाहर आते हैं, अंतर और बाहर में उसप्रकारके शुभभाव उसके साथ होते हैं, इसलिये उस सम्बन्धित त्याग होता है। फिर लीनता बढ़ते.. बढ़ते.. बढ़ते.. चारित्र दशा अंतर में होती है इसलिये बढ़ जाता है। मात्र ज्ञानमात्रसे कहने में आता है वह ज्ञान किसप्रकार का? कि, वह ज्ञान लीनतापूर्वक का ज्ञान होता है। लीनतापूर्वक का ज्ञान हो तो ज्ञानमात्रसे हो जाता है, मोक्ष हो जाता है। भेदज्ञानसे सिद्ध होता है। लेकिन वह ज्ञान भेदज्ञान की उग्रता (होती है तब होता है)। उस उग्रता में चारित्र अन्दर साथ में आ जाता है। और यह जाननेमात्रसे लीनता नहीं हो जाती।

मुमुक्षु :- जिस ज्ञान में अशुद्धता अशुद्धतारूपसे जानने में आयी और राग ... यह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा भी जानने नक्की किया, तो भी अशुद्धता .. उतना चारित्र तो हुआ है।

समाधान :- थोड़ा तो हुआ है।

मुमुक्षु :- तो फिरसे वैसे राग में क्यों फँसता है?

समाधान :- उसके पुरुषार्थ की मन्दता है। उसे ऐसा होता है कि इस क्षण यह यदि छूट जाये तो मुझे कुछ नहीं चाहिये। लेकिन उतना पुरुषार्थ उससे हो नहीं पाता। एकदम जोरदार वैसी पुरुषार्थ की उग्रता होती नहीं। श्रद्धा हुई, ज्ञान हुआ, जाना, अमुक प्रकारसे न्यारा हुआ, स्वानुभूति हुई, बाहर आया, भेदज्ञान की धारा वर्तती है, भिन्न हूँ, भिन्न हूँ ऐसी

परिणति सहज चलती है। प्रत्येक कार्य में जुड़े तो भी स्वयं ज्ञाता रहता है-जाननेवाला रहता है। अंतरसे एक नहीं हो जाता। ऐसा जोरदार चलता है, फिर भी जितना चाहिये उतना पुरुषार्थ चलता नहीं, होता नहीं पोता। अमुक प्रकार का जो राग है, जो विभाव है वह उसकी पुरुषार्थ की मन्दता के कारण एकदम छूट नहीं सकते। उसमें जुड़ने जैसा नहीं है ऐसा मानता है, तो भी पुरुषार्थ की मन्दता के कारण जुड़ जाता है। किसीको एक क्षण में अंतर्मुहूर्त में हो जाता है, शिवभूति मुनि को, वह अलग बात है। बाकी प्रत्येक को नहीं होता। पुरुषार्थ की मन्दता रहती है। इसलिये क्रमसे होता है।

मुनिदशा आये, छठे-सातवें गुणस्थान में झुलते हो तो भी किसको तुरंत केवलज्ञान होता है, किसीको कुछ समय बाद होता है। गृहस्थाश्रम छूट गया, मुनिदशा आयी, छठे-सातवें गुणस्थान में झुलते हैं तो भी कोई तुरंत श्रेणी लगाता है, किसीको देर लगती है। पुरुषार्थ का कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं है। उसमें कर्म का तो निमित्तमात्र है, स्वयं के पुरुषार्थ की मन्दता है। अन्दर खेद रहता है, समझता है कि मेरे पुरुषार्थ की मन्दता है।



### पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा-सी.डी.-५ B

मुमुक्षु :- जो-जो विवक्षाएँ आती है, वैसे उस-उस वस्तु अथवा उस-उस वस्तु के भाव में ऐसे कोई धर्म रहे हैं इसलिये उस विवक्षासे उसप्रकार का कथन होता है? या धर्म नहीं हो फिर भी वह विवक्षा कहने में आती है। जैसे कि, मैं आपको दृष्टांत दूँ तो अधिक स्पष्ट होगा। जैसे, राग। राग को जीव का परिणमन, जीव की पर्याय भी कहने में आती है और राग को पुद्गल का परिणमन, परद्रव्य परभाव भी ऐसा भी शास्त्र में कहते हैं। अब, ऐसी कोई योग्यता उस धर्म में पड़ी है? राग एक धर्म है, तो उसमें ऐसी कोई योग्यता पड़ी है कि जिससे उसप्रकार का कथन आता है? अथवा किसप्रकारसे है?

समधान :- उसप्रकार की योग्यता है। निमित्त कर नहीं देता लेकिन निमित्त के आश्रयसे होता है। खुद परिणमता है अपने पुरुषार्थ की मन्दतासे। विभाव, एकत्वबुद्धिसे और उसमें निमित्त है, कर्म है, उसप्रकार का उसका धर्म है, वैसी योग्यता है इसलिये। कुछ अपेक्षित बात हो वह अलग है, यह तो उसका राग है उसमें कर्म निमित्त है। कोई निमित्त ही नहीं हो तो राग आत्मा का स्वभाव हो जाय। आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसमें निमित्त है।

मुमुक्षु :- माताजी! राग तो एक धर्म की बात की, परंतु शास्त्र में ऐसे अनेक कथन विवक्षाओं के आते हैं। जिस विवक्षा के कथन शास्त्र में आते हैं, वह सब कथन और

उसमें ऐसे कोई धर्म की योग्यता रही है उस अपेक्षासे ऐसा कहने में आता है या किसप्रकारसे उसे कहने में आता है?

समाधान :- अमुक प्रकार की अपेक्षाएँ लागू पड़ती है, उसप्रकार की वैसी योग्यता होती है।

मुमुक्षु :- जैसे कि, आपको दूसरा दृष्टांत दूँ, दृष्टि का जोर देने के लिये अथवा दृष्टि की अपेक्षासे ऐसा कहें कि राग पुद्गल का परिणाम है अथवा पर्याय के प्रदेश भिन्न है, ऐसा कुछ भी कहने में आता है तो उसमें उस प्रकार का कथन हो सके ऐसा कोई धर्म है इसलिये ऐसा कहते हैं या किसप्रकारसे है?

समाधान :- उसप्रकार का उसमें धर्म है। दृष्टि के जोर में उसे उसप्रकारसे उसे गौण हो जाता है, इसलिये कहने में आता है। उसे गौण नहीं होता और कहने में आता है ऐसा नहीं है, दृष्टि के जोर में उसकी पर्यायपरसे दृष्टि छूटकर द्रव्य पर दृष्टि जाती है और गौण हो जाता है, इसलिये कहने में आता है।

मुमुक्षु :- गौण हो जाता है उस अपेक्षासे कहने में आता है और उसप्रकारसे कहनेरूप धर्म वस्तु में रहा है। समाधान :- हाँ, ऐसा है, ऐसा है। ज्ञान में ऐसा आता है, दृष्टि के जोर में पर्याय गौण होती है, उस प्रकार का धर्म है।

मुमुक्षु :- उसका अर्थ यह हुआ कि शास्त्र में कोई भी कथन आये तो उसप्रकारसे कहने की योग्यता, उसप्रकार का एक धर्म रहा है।

समाधान :- हाँ, वैसा धर्म रहा है। ऐसी अपेक्षाएँ उसे लागू पड़े उसप्रकार का धर्म रहा है।

मुमुक्षु :- वैसी अपेक्षाएँ उसे लागू पड़े उसका विशेष (स्पष्टीकरण)?

समाधान :- अर्थात् उसमें उसप्रकार का वाच्य उसमें रहा है कि उसप्रकारसे वचन में आता है।

मुमुक्षु :- ४७ नय में ज्ञाननय और क्रियानय आती है। यत्नसाध्य और अयत्नसाध्य ऐसा आता है। निश्चयसे तो ज्ञाननयसे ही मुक्ति होती है, क्रियानयसे किसीकी मुक्ति होती नहीं, फिर भी क्रिया नाम का एक धर्म गिनकर उस नयसे देखनेपर क्रियानयसे मुक्ति हुई, ऐसा एक कथन शास्त्र में आया। तो वहाँ क्या कहना चाहते हैं?

समाधान :- ज्ञान के साथ परिणति तो होती है और क्रियानयसे मुक्ति हुई (ऐसा कहा), तो मात्र ज्ञान ही करता रहे ऐसा नहीं, उसकी परिणति बदलती है। क्रियानयसे मुक्ति हुई (ऐसा कहा है वहाँ) ज्ञानपूर्वक की क्रिया वहाँ लेनी है। ज्ञानपूर्वक की क्रियासे मुक्ति होती है। सम्यग्दर्शन हुआ फिर ज्ञान के जोर में मुक्ति होती है लेकिन उसे अन्दर में लीनता बढ़ती है। उसप्रकार का पुरुषार्थ, उसप्रकार की क्रिया। क्रिया यानी ज्ञान की क्रिया अन्दर होती है। उस क्रियासे मुक्ति (होती है), ऐसा कहना है। लेकिन वह ज्ञानपूर्वक की सम्यक् क्रिया

लेनी, बाह्य क्रिया नहीं लेनी। अंतर की क्रिया है। अंतर स्वानुभूतिरूप, अन्दर स्वरूप में लीनतारूप पुरुषार्थ की क्रिया होती है। ज्ञानक्रिया मुक्ति। ज्ञानपूर्वक क्रिया है। अकेली क्रिया, समझे बिनाकी क्रिया ऐसा नहीं है, ज्ञानपूर्वक की क्रिया। क्रिया यानी अन्दर स्वभावक्रिया। स्वभाव का कर्ता, स्वभाव की क्रिया सब स्वभावरूप है। क्रियासे मुक्ति लेकिन एकान्त क्रियासे मुक्ति ऐसे नहीं, उसकी शैली ऐसी समझनी कि ज्ञानपूर्वक की क्रिया है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक की क्रिया। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र। चारित्र यानी अन्दर स्वरूप में लीनता होती है। उसप्रकार की उसकी क्रिया है।

मुमुक्षु :- माताजी! ज्ञानक्रियाभ्याम मोक्ष, जो आता है वह तो आप जो कहते हो वह बराबर है। लेकिन यहाँ ४७ नय में जो क्रियानय की बात है कि अनुष्ठान। अनुष्ठान यानी शुभ आचरण। शुभ आचरणसे मुक्ति हुई, ऐसा भी किसी एक नयसे कह सकते हैं।

समाधान :- कह सकते हैं उसमें उसका अर्थ ऐसे करना कि उसके साथ शुभ होता है। शुभ होता है इसलिये शुभसे मुक्ति हुई ऐसा कहा, लेकिन उसका अन्दर गहरा अर्थ ऐसा कहना है कि अन्दरसे भेदज्ञानकरके ज्ञान- सम्यक्ज्ञान प्रगट किया और अन्तर की क्रिया प्रगट हुई, उसके साथ ऐसा शुभ (होता है)। जैसे चारित्र होता है उसके साथ पंच महाव्रत होते हैं। पंच महाव्रतसे मुक्ति हुई ऐसा कहने में अन्दर अपने स्वरूप में शुद्ध स्वभावसे मुक्ति हुई, ऐसा कहने का आशय है। लेकिन बाहर में दूसरों को ऐसा दिखाई देता है इसलिये शुभभाव- पंच महाव्रत सो मुनिपना, ऐसा कहने में आता है। पंच महाव्रत कोई मुनिपना नहीं है। लेकिन मुनिपना तो अंतर में है। लेकिन उसके साथ जो रहनेवाला है उसे भी वह आरोप, शुभभाव को दिया जाता है। बाह्य अनुष्ठान को आरोप दिया जाता है। उसका कहने का मूल रहस्य दूसरा होता है। बाहरसे कहकर अंतर का कहना चाहते हैं। जहाँ ऐसे पंच महाव्रत होते हैं उसके साथ यह यथार्थ हो उसे ऐसा शुद्धउपयोगरूप चारित्र अन्दर होता है। अकेला शुभ हो उसकी बात नहीं है। उसका आशय समझना चाहिये।

मुमुक्षु :- आपने एक बहुत अच्छी बात कही, बाहरसे दिखता है, बाहरसे दिखती है क्रिया,...

समाधान :- बाहर की क्रिया दिखती है। उस क्रियासे मुक्ति नहीं लेनी। अंतर में पूरा सत्य अर्थ लेना। मात्र बाहर का नहीं लेना। उसके साथ जो होता है उसपर आरोप दिया जाता है। उसके साथ शुभभाव पंच महाव्रत का, अणुव्रत का जो होता है उसपर आरोप दिया जाता है।



## पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा-सी.डी.-५ C

मुमुक्षु :- हे कृपालु माताजी! आप प्रथम वचनामृत में फरमाते हो कि तुझे अच्छा नहीं लगता हो तो अन्दर में जा, वहाँ सुहाये ऐसा है। तो हे माताजी! बाहर में तो हमें अच्छा नहीं लगता। लेकिन अन्दर जा नहीं पाते, तो कृपाकरके अन्दर जाने की रीत समझाइये।

समाधान :- बाहर अच्छा नहीं लगता। अन्दर जाने में तो खुद अपने आपको पहचाने तो अन्दर जा सके, पहचाने बिना जा नहीं सकता। स्वयं को पहचाने। स्वयं का स्वरूप क्या है? खुद जाननेवाला है। यह विभाव मेरा स्वभाव नहीं है। स्वयं को पहचाने बिना अन्दर जा नहीं सकता। इसलिये जिसे सच्ची लगनी लगी है वह स्वयं को पहचानने का प्रयत्न करता है। पहचाने। गुरुदेवने क्या मार्ग बतलाया है? गुरुदेवने तो बहुत समझाया है, उसे खुद समझे। अन्दर विचार करे कि द्रव्य-गुण-पर्याय का क्या स्वरूप है? उसे समझे तो अन्दर जा सकता है। वास्तव में यदि बाहर में अच्छा नहीं लगता हो और वास्तविक आत्मा की लगनी लगी हो तो वह स्वयं को पहचाने बिना रहता ही नहीं। खुद को सच्ची लगनी लगी नहीं है और बाहर विभावसे सचमूच थक गया हो या उसे दुःख लगा हो तो अन्दर जाने का मार्ग वह स्वयं ही कर लेता है और स्वयं ही विचार कर लेता है। द्रव्य-गुण-पर्याय का क्या स्वरूप है? गुरुदेवने क्या मार्ग कहा है? बाकी अनन्तकाल का अभ्यास है इसलिये उसे अन्दर जाना तो मुश्किल पड़ता है। लेकिन स्वयं को पहचाने तो अन्दर जा सके ऐसा है। और अन्दर में अपना स्वभाव है, इसलिये खुद को सुहाये ऐसा है। बाहर कहीं भी अपना स्वभाव नहीं है। अनन्त कालसे उसमें रुक गया है इसलिये बाहर में रुचि हो गई है। बाकी अंतर में यदि रुचि लगे तो सहज स्वभाव अपना है। अपना सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सब सहज है। पहचाने तो अंतर में जा सकता है, पहचाने बिना जा नहीं सकता। भेदज्ञान करे तो जा सकता है। अन्दर स्वयं द्रव्य को पहचाने। द्रव्य पर दृष्टि करे तो जा सकता है, बाकी जा नहीं सकता। स्वयं को पहचाने तो जा सकता है।

प्रश्न पढ़कर (पूछना) ऐसा अभी नहीं रखना है, धारावाही बोलनेसे मुझे श्वास की तकलीफ होती है। इसलिये पढ़कर जो प्रश्न करते हैं, वह एक-दो दिन बाद देखेंगे, ऊपरसे ही प्रश्न आते हैं। एक प्रश्न के बाद दूसरा प्रश्न आता है तो थोड़ा आराम मिलता है। एकसाथ बोलूँ तो श्वास की तकलीफ होती है।

मुमुक्षु :- माताजी! आपने दो दिन गुरुभक्ति बहुत अच्छी करवाई। उसपरसे एक प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि सभी ज्ञानियों को और ज्ञानी होनेवाले को क्या ऐसी भक्ति नियमसे आती होगी?

समाधान :- भक्ति तो आती ही है। क्योंकि अन्दर भावना तो देव-गुरु-शास्त्र पर भक्ति आये बिना तो रहे ही नहीं। फिर बाह्य क्रिया किसप्रकार की हो उसका कोई नियम नहीं है। उसे भाव में तो भक्ति आये बिना रहती नहीं। क्योंकि खुद को जिस मार्ग रुचि हुई है, स्वयं को जो आत्मा के स्वभाव का प्रेम हुआ है, वह स्वभाव जिसने प्रगट किया और जिसने पहचान करवाई ऐसे गुणसे भरे देव, गुरु और शास्त्र पर उसे भक्ति आये बिना रहती नहीं। उसे ऐसा नहीं लगता कि यह मेरा स्वभाव है, यह तो शुभभाव है, ऐसा नहीं होता। दृष्टि में वह समझता है कि यह शुभभाव मेरा स्वभाव नहीं है। बाकी जबतक पूर्णता प्राप्त नहीं हुई तबतक देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आये बिना रहती नहीं। फिर शब्दों में आये नहीं आये, बाह्य क्रिया में आये नहीं आये, लेकिन उसे अंतर में तो आये बिना रहती नहीं।

मुमुक्षु :- बाहर में कोई व्यक्त कर सके या नहीं भी कर सके।

समाधान :- हाँ, नहीं भी कर सके। लेकिन उसे अंतर में भावना आये बिना रहती नहीं। आचार्य भी लिखते हैं, पहले भगवान का नाम लिखते हैं। जो जिनवरने कहा है वह मैं कहता हूँ। आचार्य भी ऐसा कहते हैं। और विचार करे, मुनि आदि विचार करे तो द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप विचारे तो भगवानने क्या कहा है? ऐसे उन्हें भगवान का विचार आये बिना रहता नहीं।

मुमुक्षु :- इतनी उच्च भूमिका में पहुँचने के बाद भी ऐसा विनय का भाव आता है, तो सामान्य ज्ञानी को और ज्ञानी होनेवाले को ऐसा भक्तिभाव अन्दर आता है।

समाधान :- आना चाहिये। दो द्रव्य भिन्न है और मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिये भक्तिमें-से ऊड़ नहीं जाती। वह तो वस्तुस्वरूप समझना है कि दो द्रव्य भिन्न हैं और शुभभाव है वह मेरा स्वरूप नहीं है। उससे भी स्वयं भिन्न है। ऐसे वस्तु स्वरूप समझे, उस रूप परिणति हो। लेकिन अधूरी भूमिका में शुभभाव आये बिना रहते नहीं। तो जिज्ञासु की भूमिका में भी गुरुने क्या कहा है? गुरु का आशय क्या है? ऐसी भावना आये बिना रहती नहीं, ऐसे विचार आये बिना रहते नहीं। फिर ऐसा नहीं आता कि मैं सब समझ गया, अब क्या काम है? ऐसे विचार नहीं आते। उसे ऐसा लगता है कि अभी तो बहुत करने का बाकी है। वहाँ समझ गया ऐसा कहाँ आता है? अभीव तो सम्यग्दर्शन होने के बाद भी ऐसा नहीं आता कि समझ गया। तो फिर जहाँ समझा ही नहीं है वहाँ मुझे सब समझ में आ गया (ऐसा कहाँ-से आये)? भावना नहीं आती? गुरुने कहाँ क्या कहा है? उनका आशय क्या है? कितना समझना है? ऐसा उसे आये नहीं, जहाँ यथार्थ मुमुक्षुता प्रगट हुई है वहाँ ऐसा नहीं आता।

मुमुक्षु :- माताजी! मुझे तो थोड़ा और भी पूछना है कि देव-गुरु के प्रति तो प्रत्येक ज्ञानी को अथवा ज्ञानी होनेवाले को भक्ति आती ही नहीं, लेकिन खुद के जो उपकारी हैं उनके प्रति देव-गुरुसे भी अधिक भक्ति का भाव आता होगा, ऐसा है?